द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय : हिन्दी और मराठी दलित कथा साहित्य की पृष्ठभूमि

2.1 पस्तावना

भूतकाल को जाने बिना भविष्य काल की बात नहीं कर सकते। हिन्दी और मराठी दलित कथा साहित्य की तुलना करने से पहले हिन्दी और मराठी दलित साहित्य की पृष्ठभूमि को जानना जरूरी है। दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य आज कल की बात नहीं है। पाचीन काल से लेकर अब तक के साहित्य पर दृष्टि डाले तो मालूम होता है कि बुद्ध काल से दलितों पर काफी कुछ लिखा गया है। हिन्दी के दलित साहित्यकार कंवल भारती का मानना है कि “बाह्मण साहित्य में ही हमें दलित साहित्य की संस्कृति मिलती है, जो दलित साहित्य के विरुद्ध पतिकान्ति का ही साहित्य है। सारे बाह्मण या हिन्दू साहित्य में दलितों की उपस्थिति अत्यन्त विकृत रूप में है। ऐसा दलित विरोधियों के संस्कृति विरोध के कारण हुआ है। इसलिए इतिहास के पुनरावलोकन की जरूरत है। जिसे सीधे वैदिक काल से ही लेना होगा। ॠग्वेद की साक्षियाँ ही दलित संस्कृति के स्वरूप को रेखांकित करने के लिए काफी है।”[1] वर्तमान काल में दलित साहित्य का जो रूप है, वह वस्तुत: मराठी दलित साहित्य से पभावित है। दलित साहित्य की शुरुआत कब से हुई यह चर्चा का विषय है। जो भी हो डॉ. बाबासाहेब का इसमें बहुत बडा योगदान रहा है।

2.2 हिन्दी दलित साहित्य की आदिकालीन पृष्ठभूमि

आदिकाल जिसे हम वीरगाथा काल कहते हैं उसमें केवल वीरों का ही वर्णन नहीं है, बल्कि उस समय के शूदों की स्थिति और समाज में स्थित जाति व्यवस्था का भी वर्णन मिलता है।

विदेशियों के भारत आने पर भारतीय समाज म एक पकार की हलचल होने लगी। विदेशियों (मुसलमानों को छोड कर) का हिन्दू समाज में घ़ुलमिल जाने से नई जातियों का उदय हुआ। तजपतों का उदय भी कुछ इसी पकार हुआ था। राजपूतों के पास सत्ता होने से उनका समाज में दबदबा बढा।

बाहमणों के वर्चस्व को थोडा खतरा महसूस हुआ। इसलिए उन्हांने वर्णवाद की कट्टरता को थोडा लचीला बनाकर राजपूतों को क्षत्रिय की संज्ञा दी। दूसरे वगां और जातियों के लोग भी बाह्मणों के वर्चस्व को चुनौतो देने की मुदा में खडे होने लगे। इसका जीवंत उदाहरण सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य में मिलता है। समाज में फैले कर्मकाण्ड के पति तीखा विरोध इनके साहित्य में मिलता है। इस युग मं बाह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद इन चारों वर्णों की पधानता थी तथा अनेक जातियों एवं उपजातियों मे बंटकर भारत सामाजिक आदर्श खो चुका था। जाति-पाँति के बन्धन अधिक जटिल होते जा रहे थे। साधु-सन्यासियों के शाप और भूदानों के बीच सामान्य जनता आतंकित थी। निर्धनता, निरंतर होने वाले युद्ध और महामारियों ने सामान्य जनता को संकट में डाल दिया था। आदिकाल के कवियों ने एसे ही परिवेश और वातावरण के अनुसार काव्य रचना की सामगो का चयन किया। समाज की विषम परिस्थितियाँ जनता की रुचि के अनुकूल ही उस समय के साहित्य में पतिबंधित होने लगी। भारतीय समाज वर्ण और जातियों के स्वरूप को बहुत पहले से स्वीकार कर चुका था। इसके कारण मनुष्य की गरिमा को ठेस पहुँची। असमानता और भेदभाव की पणाली का सूत्रपात हुआ।

आदिकालीन साहित्य को जब रचना हो रही थी, तब उस काल में उत्तर भारत में तंत्रवाद का विकास हो रहा था। इसलिये जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव सभी संपदायो में तंत्रवाद का पभाव बढ रहा था। इससे यह पमाणित होता है कि स्त्री और शूदां के पति सामान्य स्वीकृति बन रही थी। दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन फैल रहा था। उनमें कुछ स्त्रियाँ, कुछ बाहमण और कुछ शूद भी थे। तंत्रमार्ग और भक्ति दोनों ने जातोय विषमता की जगह समानता के महत्त्व को पतिपादित किया। दक्षिण भारत में चन्नावाराव लिंगायत शिव के पूजारी थे। उन्होंने जातिव्यवस्था का कडा विरोध किया। सामाजिक दूषणों को दूर करने का पयत्न किया।

आदिकाल में आध्यात्मिक सरोकारों से ज्यादा सामाजिक सरोकार था। हर जगह स्थापित जीवन मूल्यों और परंपरा वादी मतवादों पर पश्न खडा किया गया। इसका पभाव नाथों और सिद्धों के साहित्य पर दिखाई पडता ह। अधिकतर नाथ और सिद्ध निम्न जाति के थे।

वास्तव में साधना का विकास बहुत कुछ सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। वजकालोन समाज विषमताओं से भरा हुआ था। उस समाज में सामंतो का वर्चस्व था। उच्च वर्ग के वेदाध्यान को ही शिक्षा के रूप में स्वीकार किया जाता था। स्त्री और शूद्र इससे वंचित थे। सिद्धां के साहित्य

में रूढिवादी मानसिकता का खंडन किया गया। सिद्धों की रचनाओं मे परंपरागत सामाजिक अनुशासन के पति उपेक्षा का भाव है। सिद्धा ने वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया और पंडितों के कर्मकांड की जमकर आलोचना की।

आगम वेअ पुरागोहि पंडिअ मन वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिमि बाहेरीअ भमन्ति।।$_2$

अर्थात पंडित आगम वेद पुराण पढकर मान करते हैं। परन्तु तत्त्व की बात समझने का पयत्न नहीं करते हैं। यह उसी पकार का पयत्न हैं, जैसे पके फल (श्रीफल) के चारों ओर भौंरा चक्कर लगाता है। उस समय जातिवाद नामक दषण फैला हुआ था। समाज में निम्न श्रेणी के लोगों को सन्मान पूर्वक जीने का कोइ अधिकार नहीं था। एसी विषम परिस्थितियों म सिद्धा न नये पकार के सामाजिक विकल्प पाने का पयत्न किया। उन्हाने सामन्ती पणाली के अभ्यस्त समाज के स्थान पर नये शोषण मुक्त समाज की परिकल्पना की। सिद्ध साहित्य के पणय पसंगो में लोक जीवन के जो चित्र आए वे बडे ही मौलिक हैं। उनम जिन बिम्बा का पयोग हआ है वे सर्वथा नये हैं। सिद्धो में सभी जाति के लोग शामिल थे। शबरपा एक शबरी बालिका का वर्णन करते हैं। इसमें शबरी बालिका का भोला भाला चित्र है। वह पकृति की अबोध बालिका की तरह संसार से दूर उँचे पर्वत पर रहती है। वह मोर पंख से श्रृंगार करती है। वह गुंज माला से अपने अंगो को सजाती है। घने तरुओं के बीच वज कुंडल पहनकर घुमती है। इसमें जिस पकार की अबोध दलित बालिका का वर्णन है। वह शास्त्रीय शब्दों में मुग्धा नायिका है। इसमें पकृति के वर्णन तथा नायिका के वर्णन में एक मासुमियत है। यह मासुमियत शास्त्रीय साहित्य की नायिका के रूप वर्णन से अलग है। इसमें सामंतो साहित्य के नायक–नायिका की तरह उपभोग का वर्णन नहीं है।

इस वर्णन को पढकर एसा लगता है कि सिद्ध रचनाकारों ने उन दलित और पीडित वर्ग को अपने साहित्य में स्थान दिया, जो समाज में हाशिए पर थे। जिनका वर्णन अभिजन्य साहित्य में आवश्यक नहीं समझा जाता था। डोम्बी और शबरी का वर्णन कुछ इसी पकार का है। समाज निम्न स्तर पर जी रहे लोगा को सिद्धा ने अपना काव्य नायक बनाया। साहित्य के इतिहास में सिद्धों का यह कान्तिकारी लक्ष्य है। उनकी उलटबासी में व्यवस्था के पतिरोध को पहचाना जा सकता है। सिद्धों की

भाषा में अपभ्रंश क साहित्यिक वर्चस्व के स्थान पर देशभाषा को अपनी रचना का आधार बनाया। साहित्य के हर क्षेत्र में चाहे भाषा हा, बिंब हा, अनुभूति हो, सिद्धों का योगदान एकदम मौलिक है।

नाथपंथ के साधकों ने अपने को योगी कहकर संबोधित किया है। इन योगियां ने अपने काव्यां में सामाजिक विषमता जैसे कि जाति पथा, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा आदि बाहयाचारों का विरोध किया। नाथों का जोगीडा आज भी पूर्वी भारत में पचलित है। वस्तुतः जोगीडा अनुभव सिद्ध ज्ञान की परिपक्वता को हमारे सामने उपस्थित करता है। नाथपंथ का महत्त्वपूर्ण योगदान भक्तिकालोन निग्ण साहित्य को अपना अनुभव सौंपने में रहा है। नाथपंथ ने निग्ण पंथ के लिए एक मार्ग तैयार कर दिया था। कबीर साधना और भावना दोनां स्तर पर नाथ पंथ के सिद्धांत अपनाते हैं। जिस पकार विविध धर्मों की नाथ पंथ ने एकता चाहो है, ज्ञानमार्गी कवियों ने उसी सिद्धान्त को अपनाया है। नाथपंथ की तरह उन्होंने भी सभी धर्मो को गहण किया है।

सिद्ध और नाथों के साहित्य में समकालीन जीवन और समाज रचना का वर्णन मिलता है। सिद्ध और नाथ पंथियो ने अपने अनुभव को हिन्दी के लिए सम्भव बनाया। सिद्ध और नाथ साहित्य से हटकर हम हिन्दी के विकास की कल्पना नहीं कर सकते।

2.3 भाक्तिकालीन निर्गुण कवियों का दलित साहित्य में योगदान

एसा नहीं है कि दलित कलम ने इसी युग में हिन्दी का दरवाजा खटखटाया है। आज जिस दलित साहित्य को हम देखते है बौद्ध और सिद्धों से होते हुए कबीर आदि निर्गुण संतो ने सबसे पहले सामाजिक व्यवस्था को ललकारा। जो परिवर्तनकारो थे और उनके समय में वह जन मानस में बैठ गये थे। उत्तर भारत में संत कबीर ने वर्णवाद क विरोध में आवाज़ उठाई। पूरे देश में कबीर, रैदास, दादू-दयाल, नानक, सदना, पीपा, आदि संतो न वर्ण व्यवस्था, जात-पाँत का विरोध किया। उनकी कान्तिकारी वाणी ने अपने सामाजिक व्यवस्था के पति विचार इस पकार पदान किए है। जो दलित साहित्य के आधार स्तंभ माने जाते हैं।

कबीर बहुत बडे भक्त, सफल कवि, समर्थ समाज सुधारक एवं परमतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले महात्मा थे। वे निर्गुण पन्थ के समाज सुधारक एवं कन्तिकारी कवि थे। दलित विचारक और तत्त्व ज्ञानी भी थे।कबीर के समय उच्च और निम्न का भेद भाव व्याप्त था। हिन्दू समाज जातियों में विभक्त था। स्पर्शास्पर्श की भावना का बोल-बाला था। तत्कालोन समय में निम्न जाति के लोगों की बूरी दशा थी। ऐसे समय में कबीर का पादुभाव हुआ। जीवन भर वे अंधश्रद्धा और

बाहयाचारों से संघर्षरत रहे और लोगों को सही रास्ते पर लाने की चेष्टा करते रह। उनकी वाणी ने समाज के ढाँचे में नए पाण फुँके थे। परंपरा के पभाव में वे कभी नहीं बहे। वेद और कुरान उनके आदर्श नहीं थे। आत्मानुभव, गहन साधना और पत्यक्ष दर्शन से उन्होंने जो कुछ पाया उसका पचार पसार अति निडरता से करते आए। वे कायर नहीं थे। भौतिक दण्ड या शासकों की अवमानना या धर्म विरोध का अभिशाप कोइ भी उन्ह अपने पथ से विचलित न कर सका यही उनकी प्ंजी और साधना थी कि वे दृढ निश्चय से आगे बढते रहे।

जाति और धर्म के भेद को मिटाने के लिए देशी भाषा में जन मानस को संदेश देते हुए वे कहते हैं कि,

"कबिरा कुंआ एक है, पनिहरीन अनेक।
बरतन सबके न्यारे भए, पानी सबमें एक ।।" 3

अकेले कबीर ने शेर गर्जना से बाह्मणवाद की नींव हिलाई है। समस्त भारत में यह एक मात्र संत है, जिन्हांन सामंतों-राजाओं से न डरते हुए, डटकर उनके बुराइयों की पोल खोली है। संत कबीरजी सहज भाव से बुराई पर पहार करक, समाज सुधार की ओर निकल पडते हैं। कबीर को भगवान की पार्थना करने के लिए किसी बाह्मणवादी षडयंत्र का मंदिर नहीं चाहिए, ना नमाज के लिए मस्जिद की जरूरत है। वे अपने शरीर को ही मंदिर का रूप समझते हैं और आत्मा को ही ईश्वर का रूप मानकर पार्थना में तल्लीन रहते हैं। कबीर मस्त मौला है। इसलिए तो खुलकर वर्णभेद को जडों पर कुल्हाडी सा पहार करके उसे नाश करने का पयत्न किया है।

रैदास ने भी कबीर की तरह समानता और समाजवादी सोच को अपन लेखनी में स्थान दिया है। रैदास जाति से चमार थे। वे जुता गांठने का काम करते थ यह व्यवसाय उन्ह अपने पिताजी से विरासत में मिला था। आगे चलकर वे अपने समय के बहुत बडे महात्मा बने।

लेकिन हिन्दी मानस भला इसे कैसे पचा पाता। उन्होंने 'पभुजी तुम चंदन हम पानी' को श्रेष्ठता के इतने गहरे रंग में रंग डाला कि जिसके सामने बाकि सब रंग गौण हो गये।

रैदास की की कविता में सामाजिक विषमता के पति विरोध है। उन्होंने वर्णवादी व्यवस्था की असमानता के पति आकोश पकट किया है। उन्होंने जाति पथा और कर्म काण्ड को तोडने का उपदेश दिया। संत रैदास की वाणी में नरमी तथा वेदना के साथ ही विदोह के स्वर छलकते हैं। रैदास ने अछूत जाति में जन्म लेकर सामाजिक विषमताआं का विरोध किया। वे कर्म हाथ में, धर्मसुधा की

वाणी मुखमें दलितोद्धार के भाव मन में लेकर दर–ब–दर की ठोंकरे खाते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचे। सच में संत रैदास के कार्यो की महानता के सामने सभी का सर झुकना चाहिए, वे कहते हैं,

"सभ सहि एकु रामहि जोति, सभनह एकड सिरजन हारा ।

रविदास राम रामहि सभन मंहि, बाह्मण हो कि चमारा ।।"[4]

रविदासजी ने वर्णवाद का विरोध करते हुए कहा है कि जन्म के कारण कोई बडा या कोई छोटा नहीं होता–

"रविदास जन्म के कारनै, होत न कोऊ नीच।

नर को नीच कर डारी है, औछे कर्म को कीच।।"[5]

रैदास के बारे में मर्मज्ञों का मानना हैं कि अपने भावां को अभिव्यक्त करना या बोलना रैदास से सिखना चाहिए। आरती का पद लिखते हुए वे कहते हैं कि गाय के दूध को बछडे ने जूठा कर दिया। गंगा के जल को मछलियों ने मैला किया। फुलों को भौरों ने अपवित्र किया। तुम्हारी प़ूजा कैसे करूं ? वह अपने को बार–बार चमार कहकर संबोधित करते हैं। यह एक पकार का पतिरोध ही है। रैदास ने जातिव्यवस्था पर करारा पहार किया है। वे कहते है कि,

" जात जात में जात है, ज्यों केलन के पात,

रैदास मनुख ना जुर सके जब लग जात न जात ।"[6]

भक्ति की दृष्टि से नारी–पुरूष और बाहमण शूद मे भेद नहीं है। सभी भगवान के के अंश हैं। कबीर, तुलसी, सुर, जायसी और मीरा ने काव्य में सामाजिक विषमता के किसी एक पक्ष का बहुलतासे चित्रण नहीं किया है। पहली बार शूदां ने अपने संत आगे किये। अपना साहित्य का सृजन किया। कबीर, रदास आदि संतकवियों नें इश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज उठाई। समाज में सामन्तवादी विचारधारा का विरोध हुआ।

भक्ति आदोलन का जनसाधारण पर अभूतपूर्व पभाव पडा। सामान्य जनता रूढिवादी परम्परा और धामिक आडम्बर के विरूद्ध आत्म विश्वास के साथ कमर कस कर खडी हो गई। उन्हांने जात–पाँत का जमकर विराध किया। उत्तर भारत में संत कबीरदास, रविदास, गुरूनानक, दादू, पलटूदास, मलूकदास, सुन्दरदास, रज्जब आदि संतोने मूतिपूजा, अवतारवाद, पाखंडवाद, बाह्मणवाद आदि की खुलकर निंदा की है।

2.4 मराठी दलित कथा साहित्य की पृष्ठभूमि

मराठी साहित्य का पारंभ सात सौ साल पुराना माना जाता है। लेकिन संपूर्ण समाज का चित्रण इस साहित्य में नहीं दिखाई दिया। हजारों वर्षो से दलितों की भोगी हुइ यातना को बयान करने के लिए काफी समय लगा। मराठी साहित्य में दलित चेतना का स्वर शिखर तक पहुंच चुका है। वैसे कई विचारकां द्वारा दलित साहित्य आंदोलन के उत्स को ढूँढने के पयत्न हुए हैं। किसी ने चोखामेला तक दौड लगाई तो कुछ फुले तक पहुँचे। कुछ विचारको ने 'किसन फागोजी बनसोड' नाामक कवि को दलित साहित्य का जनक माना। हिन्दी दलित साहित्य पृष्ठभूमि को समझने क लिए मराठी दलित साहित्य की पृष्ठभूमि को जानना जरूरी है। अण्णाभाउ रणपीसे के लेख में सर्व पथम 'दलित साहित्य संघ' शब्द का पयोग 1950 के आसपास देखने को मिलता है। जो दलित साहित्य का समालोचन 12 सप्टेम्बर 1953 और दलित साहित्य की अनास्था 28 फरवरी 1955 को यह कमशःजनता और जयभीम साप्ताहिक पत्रिकाओं म पकाशित हुआ। परन्तु दलित शब्द का पयोग 1935 से पहले ही कहीं–कहीं दिखाई देता है। मार्च 1958 को पबुद्ध भारत पत्रिका का पत्रिका विशेषांक पकाशित हुआ। भूतकाल में कांतिवीर फुले, डॉ. आंबेडकर जैसे महानुभवों ने विषम समाज के विरूद्ध आवाज उठाई। उन्हें हमेशा याद रखा जायेगा। वस्तुतः दलित साहित्य का उद्‌गम बिंदू डॉ. आंबेडकर को माना जाना चाहिए। उनके द्वारा चलाए गए आन्दोलन दलित साहित्य के लिए विशेष रूप से परणा दायी रहे हैं। 1920 के आसपास जब बाबा साहेब अम्बेडकर के आंदोलन का पारंभ न हुआ था, तब दलित समाज के कुछ लेखक अस्पृश्य समाज के संदर्भ में लिखकर उस वक्त की सरकार को समाज के दयनीय अवस्था से अवगत कराने का पयत्न कर रहे थ। धर्म के अंतर्गत दृष्ट रीति–रिवाज और 'मनुस्मृति' पर हल्ला बोल रहे थे ।(अपने लेखन के द्वारा) गोपाल कृष्ण वलेगकर, पंडित कोंडीराम और किसन फागोजी बनसोडे इनमें पमुख थे। अस्पृश्य जाति के युवाओं की सैन्य म भती रोक लगाए जाने पर गोपाल बाबा ने उनके विरूद्ध मुहिम छेडी। 1935 में येवलेकर के यहाँ जो धर्मांतरण की घोषणा की गई, तब बाबा साहेब के खिलाफ किसन बनसाडे ने विरोध दर्शाया। इनकी कविताएँ हिन्दू धर्म पर जोरदार पहार करती थी। इ.स. 1946 में 'पीपल्स एज्यूकेशन सोसायटी' द्वारा सिद्धार्थ कॉलेज की स्थापना की गई। इसी के साथ आंदोलन जोर पकडने लगा। बाबासाहेब आम्बेडकर के मूल संदेश का पालन 'युनाऐड एज्यूकेर अेन्ड अेजिटेड' ने भी किया। इसी वक्त सामाजिक, राजकोय स्तर पर अनेक लडाईयां लडो गई। उसी समय सिद्धार्थ कॉलेज के युवा पदवींधारकों का एक बडा वर्ग बाहर आया। घनशाम तळपटकर आदि युवाओं ने ई.स. 1950 में सिद्धार्थ साहित्य संघ नामक संस्था शुरू

की। इसमें कई सुशिक्षितां ने साहित्य लिखना शुरू किया किन्तु उनमें एक डर था कि उनके दलित साहित्य को शायद उतना सन्मान नहीं मिलेगा, जितना मुख्य धारा के साहित्य को मिला।इसी कारण उनके साहित्य पर सफेदकोश साहित्य के मूल्यों का पभाव अधिक था।

इस काल का निर्माण निर्मिती मुख्यत: जनता पबुद्ध भारत तथा रिपब्लिकन पक्ष के मुखपत्रों और बाबा साहेब आम्बेडकर के जन्म जयंतो पर निकलने वाले वार्षिकों से हुई। फडके, खांडेकर उस समय के जाने माने लेखक हुआ करते थे। दलित लेखक उन्हीं की ओढ में उन्हीं की तरह लिखना–बोलना पसंद करते थे। उन्हं अपने भतकाल से अनेक शिकायते थीं। यह अभावपूर्ण जीवन की स्वाभाविक पकिया थी।

इ.स. 1953-1954 के आस पास दलित जीवन का समर्थ चित्रण करने वाला पहला लेखक अन्नाभाउ साठे जैसे कलावंत दलितों की आशा आकांक्षाओं का वाणी पदान कर रहे थे। वे मार्क्सवादी थे। अक्तुबर 1956 में बाबा साहब ने अपने लाखों अनुयायियों के साथ मिलकर बौद्ध धर्म का स्वोकार किया उनका महत्त्व केवल धार्मिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक भी था। नये सांस्कृतिक जीवन के सफर की शुरूआत मराठी के पहले दलित साहित्य संम्मेलन से होनी थी, इसकी शुरूआत डॉ. अम्बेडकर के हाथां 1956 के दिसम्बर में होने वाली थी किन्तु उनक आकस्मिक महानिर्वाण क कारण यह संकल्प अधूरा ही रह गया। आगे चलकर इस सम्मेलन के अध्यक्ष बापू साहेब कांबडे बने और आचार्य अत्रे उदघाटक थे किन्तु कुछ कारणां से उदघाटन का जिम्मा आन्ना भाऊ साठे को दिया गया। इसमें दलित वर्ग के साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? इस संदर्भ मे निबंध स्पर्धा भी आयोजित की गई। इसी संम्मेलन के अंतर्गत मराठो भाषा और दलित क्षेत्रों में हुए लेखक और अन्य लेखकों के दलित साहित्य का एक स्वतंत्र साहित्य विभाग दलित साहित्य के नाम से जाना जाए एसा सुझाव पेश किया गया। 1956 में बाबा साहेब के निधन के बाद दलितों पर जो भी अत्याचार किये गये उसमें बहिष्कार, हल्लामचाना दलित स्त्रियों पर बलात्कार उन्हं निर्वस्त्र करके बेइज्जत करना आदि के कारण दलितों के मन मं असुरक्षितपन की भावना जाग उठी। इसी से दलित आंदोलन का उदय हुआ। 1958 में हुए इस पथम दलित साहित्य सम्मेलन में शामिल आण्णाभाउ साठे ने कहा कि “पृथ्वी ही शेषेच्या मस्तकावर तरली नसुन दलितांच्या अस्पृश्यता वर तरली आहे।”[7] अर्थात पृथ्वी शेषनाग के मस्तक पर न तैर कर, दलितां के अस्पृश्यता पर तैर रही है।

दलित साहित्य यह शब्द पयाग मराठवाडा (दि.अंक 1969) मं आयोजित किये गये परिसंवाद मे उपयोग में लाया गया एसा कई विचारकां का मानना है। दलितों के पहले साहित्य संमेलन की नोंध 'दै मराठा' को छोडकर किसी भी वृत्तपत्र या साप्ताहिक तथा मासिक ने नहीं ली। उस समय के संघर्षशील साहित्यकारां मे पमुख थे, घनश्याम तलवटकर, आर. बी. मोरे, दिनेश लखमा पुरकर, टी. पो. आडसुड, राम उपश्याम, जनार्दनन वाघमारे, आप्पा रणपीसे, दाता रूपवते, बंधुमाधव, नरेन्द मोरे, चोरवा कांबडे म. रु. तम्हाणेकर, यादवराव गांगुडे।

इस सम्मेलन में आण्णाभाऊ साठे द्वारा दिये गये भाषण से दलित साहित्य को दशा और दिशा मिली पर उन्हांने जो साहित्य विचार दर्शाया वह केवल विचार ही रहा। दलितों का विश्व रंगने वाला साहित्य दमदार स्वरूप मे पगट नहीं हो पाया। आगे चल कर 'फकिरा' के बाद आण्णा भाऊ साठे भी रोमेन्टीजम (गामोण) के जाल में फंस गये। इसके साहित्यिक कारणों के अलावा भी कइ कारण थे।

'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' यह दलितों के साहित्य का और साहित्यकारों का व्यासपीठ न बन सका। बाबा साहेब का निर्वाण के दो साल बोत गये थे। वह बडा विचित्र काल था।

रिपब्लिकन पक्ष के कार्यकर्ताआं मे व्यक्तिगत स्पर्धा छिड गई थी। इसका परिणाम साहित्य संघ पर पडा, किसी ने 'महाराष्ट्र बौद्ध परिषद' की स्थापना की तो किसीने 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा' की स्थापना की। उस समय के लेखक अण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात के साथ बाबुराव बागुल भी लिखने लगे। 1960 के बाद मराठी साहित्य में एक नया पवाह शुरू हुआ। नारायन सुर्वे द्वारा कामगारों की कथा व्यथा, वेदना सुनाने वाली कविताएँ इसो समय अवतरित हुई और मराठी के संतापित युवकों की एंगो यंग मेन की भूमिका खडी हुई। विषम-समाज के विरूद्ध विदोह की पुकार के साथ बाबुराव बागुल दलितां के दुःखों को लेकर कथाएँ लिखने लगे। इससे पहले इन्हों ने कई कविताएँ लिखी। सतीश काळसेकर, पदीप नेहुरकर तथा नारायन बोदकर ने पंदह कविताओं का एक संकलन बनाया। इन कविताओं में अस्पृश्यता के संबंधमें जो चीड थी, गुस्सा था वह धधकती आग के समान बाहर आया। "ज्यांनी चूक केली इथे जन्म घेण्याची त्यांनीच ती सुधारली पाहिजे, देश सोडुन अथवा भीषण युद्ध करूण।"[8]

अर्थात् जिन्होंने भी यहाँ पर जन्म लेने की भूल की है इस भूल को सुधारना होगा, या तो दश छोड कर या तो भीषण युद्ध के द्वारा। इन कविताआं की भाषा विदोही थी तथा उनमें संघर्षशील होने की तीव इच्छा जताई गई थी।

'पगति साहित्य सभा' का पुरोगामी साहित्य और 'मराठी बौद्ध साहित्य सभा' का दलित साहित्य इस काल के उल्लेखनोय आंदोलन थे। संतप्त युवानों द्वारा पस्थापितों विरूद्ध की गई लडाई भी मुख्य थी। इन तीनों में स्नेह और सामंजस्य था। 'लीटल मेगेजिन आंदोलन' ज्यादा न चल सका क्योंकि इसे दिखावे का नाम दिया गया। नयेपन को जो मर्यादा होनी चाहिए इनमं नहीं थी। परिणाम स्वरूप इसे वेग न मिला। बाबा साहेब आंबेडकर द्वारा स्थापित मिलिंद कॉलेज में विद्यार्थी और अध्यापक दोनां ही दलित थे। इसी में से म. ना. वानखडे उच्च शिक्षण के लिये अमरिका गये और वहां पर 'दलित समाज और निगो साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' किया और अपने साहित्य में विदोह का जलवा दिखाया। इ.स. 1967 का समय दलित साहित्य आंदोलन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। 30 अपल 1967 में 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य परिषद' द्वारा साहित्य संम्मेलन हुआ। इस संमेलन के अध्यक्ष डॉ. म. ना. वानखेडे थे, जिन्होंने रामायण, महाभारत संत समीक्षा और अर्वाचीन मराठी साहित्य की समीक्षा की तथा उन्होंने यह कहा कि दलितों को विश्व में बिलकुल स्थान नहीं है इसलिए निगो साहित्य जैसे दलित साहित्य का निर्माण करना आवश्यक है।

इ.स. 1967 के वर्ष की महत्त्वपूर्ण मानी जानेवाली घटना 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा' द्वारा आयोजित संमेलन थी। मुंबई, नागपुर, नासिक जैसी जगहों से दलित आंदोलन साहित्य आकार ले रहा था। साहित्यिक कलावंतों को एक साथ आने के लिए यह एक बहुत बडा अवसर था। इस सम्मेलन में पा. म. भि. चिटनीस अध्यक्ष थे। इस सम्मेलन के अंतगंत साहित्य विषयक विधायक चर्चा की गई। परिसंवाद और कवि सम्मेलन हुआ। इस संम्मलन मे बाबुराव बाबुल, डॉ. म. ना. वानखडे पा. न. भि. चिटनोस, घनश्याम तलवरकर, वामन निबांळकर, दया पवार, सुखराम हिवराडे, दिनेश लखमपुरकर आदि लेखकों और कवियों की चर्चा की गई। साथ ही दलित साहित्य आंदोलन से जुडी कई गुत्थियों को सुलझाया गया। इसके अलावा दया पवार, अर्जुन डांगळे जैसे लेखकां की कविताआं के संगह 'आकार' का पकाशन हुआ।

इ.स. 1968 में बाबुराव बागुल का 'मरण स्वस्त होत आहे' कथासंगह पकाशित हुआ जो एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इससे दलित साहित्य मुख्य धारा के साहित्य की बराबरी हाने लगी

इससे अनेक लेखकों कों परणा मिली। इ.स. 1968 में कई नये लेखका समीक्षकों ने दलित साहित्य की भूमिका को आकार दिया। मूख्य धारा के समीक्षक दलित साहित्य से सौतेला व्यवहार करते थे। उन्हाने दलित साहित्य को समाज की बदनामी माना। दलित साहित्यकारों को जातिवादो लक्षण कहकर बदनाम किया। इ.स. 1968 में महाबलेश्वर में हुए सम्मेलन मे दलित लेखकों के साहित्य पर उगली उठाई गई। 13 और 14 फरवरी को जो सम्मेलन हुआ वह ऐतिहासिक था। इस सम्मेलन के उदघाटक पा. वा. ल. कुलकर्णी ने दलित साहित्य की आवश्यकता का बोध कराया। दूसरी और दलित साहित्य की भूमिका में महत्त्वपूर्ण योगदान देनेवाली त्रैमासिक पत्रिका 'अस्मिता दर्श' की माँग और पसिद्धि बढती जा रही थी। इस दौर में मासिक पत्रकारिकता का बहुत बडा योगदान रहा।

इ. स. 1970 में बाबुराव बागुल की 'सूड' में डॉ. वानखडे द्वारा लिखी गई पस्तावना का मुख्य मूद्दा दलितों के रोष से भरे साहित्य विषयक चर्चा से संबधित था। इससे दलित साहित्य से जुडी हुइ सारी गलतफहमियाँ दर हुई।

आस्मितादर्श के साथ कइ पत्रिकाओं का आगमन हुआ। बागुल जी ने 'आम्ही' नामक मासिक शुरू किया। इससे तुलसी परब, राजा ढाले, अर्जुन डांगळे जैसे युवा लेखकों को दलित साहित्य आंदोलन में शामिल होने का मौका मिला। कई लेखक आते गये कई मासिक भी आये और गए 'मागोवा' यह मासिक भी आया जिसके संपादक श्री सुधीर बेडेकर थे।

इ.स. 1972 मे मराठी काव्य क्षेत्र की घटना को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उस समय युवा दलित कवि नामदेव ढसाळ का 'गोलपीठा' काव्य का आगमन हुआ। नामदेव ने अपने अनुभव और एहसास को काव्य में ढाला। और परिणाम स्वरूप अनेक कवि उभर कर आये। इसी समय के दौरान दलित साहित्य भाषा और साहित्यिक मूल्यों के संदर्भ मे विवादों में घिरा रहा। एक आर दलिता का शोषण तो हो ही रहा था दूसरी तरफ बाबुराव बागुल जैसे लेखकों की पेरणा से दया पवार, अर्जुन डांगळे, नामदेव ढसाळ ज. वि. पवार आदि लेखको ने आंदोलन मे पत्यक्ष भाग लिया। उन्होंने अपनी सारी ताकात अत्याचार और अन्याय का विरोध करने में लगा दी। केवल कविताएं और अन्य रचनाएं लिखकर कुछ नहीं होगा ऐसी भावनाएं युवा साहित्यकारों में जगी। परिणामतः सिद्धार्थ काँलेज के वसतिगृह में रहने वाले युवका ने 'युवक अघाडी' नामक संघटन का पारंभ किया इसमें युवा दलित साहित्यकार भी थे। उस समय के मुख्य मंत्री के निवास स्थल पर एक मोर्चा निकाला गया। आंदोलन का स्वरूप क्या होना चाहिए इसके विषय में मतभेद होने लगे।

अमरीकन निगो साहित्य और आंदोलन की पहचान बढती ज़ा रही थी। इससे भारतीय दलित साहित्यकारों का उस ओर आकर्षण बढता जा रहा था। उसी समय नामदेव ढसाळ, अर्जुन डांगल ज. वि. पवार आदि युवा साहित्यकारों ने आगे चल कर 9 जुलाई 1972 को 'दलित पेंथर' की स्थापना की। इसी वर्ष साधना साप्ताहिक पत्रिका ने डॉ. अनिल अवचर के द्वारा संपादित महोत्सव निमित्त एक खास दलित विशेषांक निकाला। दलित पेंथर ने दलितों पर जो अत्याचार हुए उसके निषेधार्थ इस स्वातंत्र्य दिन का कालादिन नाम दिया और मुंबई के अनेक भागा में, नामदेव ढसाल के नेतृत्व में अनक दलित पेंथर युवक काला झंडा लिए घुमे।

'साधना' में दया पवार, अर्जुन डांगळे, राजा ढाले, पल्हाद चेरवणकर, जगदीश करजांवकर आदि लेखकों ने ज्वलंत लेख पस्तुत किए। 'साधना'में अर्जुन डांगले ने अपने लेख 'राष्ट्रध्वजा' से धुम मचा दी। महाराष्ट्र में तुफान आ गया। दलित पेंथर आंदोलन महाराष्ट्र के कोने–कोने तक पँहुच गया। सदियों से फुटकर भरा हुआ असंतोष बाहर आ गया। दलित पेंथर आंदोलन में अधिकतर मंडली 'अस्मिता दर्श' इस त्रिमासिक ने अनेक लेखकां की महफिले सजानी शुरू कर दी। उसमें अनेक कवि संमेलन परिसंवाद और चर्चाएँ हाने लगी। इसी समय केशव मेश्राम, चोरवा कांबडे, दया पवार, गंगाधर पानतावणे, वामन काडक आदि लेखकों के कारण दलित साहित्य को बल मिला। केशव मेश्राम की 'हकीकत' व 'जटायु' कथा संगह और दया पवार का 'कोंडावडा' काव्य संगह की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही 'कोंडावडा' की पस्तावना अनुभव सिद्ध थी। और आंदोलन को आगे बढाने में सक्षम थी।

इसी दौरान कविता का विकास होता गया। समीक्षात्मक लेखों की पवृत्ति भी जोर पकडने लगी जिसम केशव मेश्राम, अर्जुन डांगले, पा. म. पां गाजरे इनके नाम शामिल हैं।

पा. गंगाधर पानातावणे का समीक्षात्मक गंथ 'मूल्यवेध' भी सुपसिद्ध हुआ। इ.स. 1972 से 1976 का समय दलित आंदोलन के लिए महत्त्वपूर्ण रहा। एक ओर 'मागोवा' जैसा मासिक बंद पड गया तो दसरी ओर 'दलित पेंथर' आंदोलन में तनाव और दरार की स्थिति पैदा हो गई। इस अन्तर्विरोध के कारण आंबेडकरवाद विरूद्ध मार्क्सवाद खडा हो गया। व्यक्तिगत द्वेष के बल पर एक दूसरे को नीचा दिखाया जाने लगा। नामदेव ढसाळ, बाबुराव बागुल, दया पवार डॉ. वानखडे, पो. रावसाहेब कसबे इनकी सर्जन शीलता के कारण वादगस्त मंडली डूबने लगी। असाहित्यिक समूह दलित साहित्य के विरूद्ध 'बौद्ध साहित्य' एसा नया वाद लेकर आये। उनके मूताबिक वे दलित नहीं

बौद्ध हो गये और उनका साहित्य दलित साहित्य नहीं बल्कि बौद्ध साहित्य है। किन्तु वे कभी भी बौद्ध साहित्य का अर्थ नहीं दे पाये। सर्जन शीलता का अभाव और निर्मिति शून्य पचार क कारण बौद्ध साहित्य पभावहीन रहा।

इ.स. 1976 में हुए नागपुर के साहित्य संम्मेलन के अंतर्गत इ. म. ना वानखडे ने दलित–शोषित–पीडितों के उत्थान के लिय 'विचार स्वांतत्र्य' में मराठी साहित्य पर अपने विचार स्पष्ट किये। नागपुर में हुए इस साहित्य सम्मेलन को काफी पसिद्धी मिली। बाबुराव बागुल के भाषण से इस साहित्य सम्मेलन में चार चाँद लग गये।

इस सम्मेलन से दलित साहित्य इस संसद संस्था का जन्म हुआ और डा. पा. भाऊ लोखंडे और डॉ. मधुकर राव वासनिक इनके द्वारा संवादित निकाय इस द्विमासिक की शुरूआत हुई। इ.स. 1976 से 1977 तक फिर से मासिकों की भरमार शुरू हो गई जिनमें दलित साहित्यकारों की कलाकृतियों को शामिल किया गया। पा. अविनाश डोळस ने निकाय के बाद 'अस्तित्व' द्विमासिक का संपादन किया। नागपुर से मुक्तिविहीन के द्वारा 'पमेय' दलित संसद द्वारा 'दलित कांति' त्रिमासिकों की शुरूआत हुई। मुंबई से राजा ढाले के द्वारा संपादित 'जातक' नाम का मासिक आया। पबोध करंदीकर एवं सुरेश कदम द्वारा 'संसद' और अविनाश महोतकर द्वारा 'समाज' पत्रिका का पांरभ हुआ। इस काल में बागुल की 'जेव्हा मी जात चोरली' इस कथा संगह की दूसरी आवृत्ति का पकाशन हुआ और पा. रत्नाकर गणवीर द्वारा संपादित 'बहिष्कृत भारतातील अगलेख' महत्त्वपूर्ण रहे।

इसके बाद कई काव्य संगह आये जिनके कारण दलित साहित्य आंदोलन सुदृढ और पवाहित हुआ। नागपुर में हुए संम्मेलन के बाद 'अस्मितादर्श' के जनक कौन? इस वाद को बढावा मिला। पुणे, औरंगाबाद, नागपुर के वर्तमान पत्रां में यह मुद्दा छाया रहा। दलित साहित्य संसद द्वारा जून 1977 में लोणावला स्थित दो दिवसीय दलित साहित्य कारों की चर्चा शिबिर का आयोजन किया गया। यह महत्त्वपूर्ण घटना थी। 'साहित्यातील अंतर्विरोध' इस विषय पर चर्चा की गई। इस शिबिर की महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि कई नये लेखकों ने इस चर्चा में सकियता एवं आत्मविश्वास पूर्वक भाग लिया अपनी बात कहकर अपने मतों को स्पष्ट किया। दलित साहित्य के विकसित रूप को देखकर टाइम्स ऑफ इन्डिया, महाराष्ट्र टाइम्स, सारिका, माय मराठी, सिंह गर्जना इन सामायिकों ने दलित साहित्य को स्थान दिया। इ.स. 1970 से 1977 तक के समय में डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर

के सिद्धार्थ काँलेज से शिक्षा पाकर युवा दलित लेखकों की नई पीढी नये सफर पर चल पडी थी। जो अब तक जारी है।

2.5 मराठी साहित्य में संत कवियों का योगदान

समाज परिवर्तनशील है, वैसे ही समाज की जरूरतें भी परिवर्तनशील है। समाज के साथ-साथ विचारधाराएँ भी बदलती है, मांग बदलती है। आज के युग के मुकाबले दसवीं ग्यारवीं शताब्दी में लोगों की माँगें कुछ अलग थी। उस युग के संतों की वाणी को पत्थर की लकीर समझा जाता था। इसी कारण समाज को सुधार में संत आंदोलन बडा ही महत्त्वपूर्ण बन गया था। असम, केरल, आन्धपदेश, पंजाब, महाराष्ट, उत्तर भारत आदि क्षेत्रों में संतो ने जातिवाद, छुआछूत, आडंबर, ऊंच-नीच का खुलकर विरोध किया है। समाज में भेदभाव को मिटाने के लिए किसी-न-किसी स्तर पर सामाजिक सुधार का कार्य चलता आया है। भारतीय इतिहास में अनेक संतों महंतो का योगदान पाप्त है एसी सामाजिक अवस्था समस्त भारत में थी। सबसे ज्यादा जातोयता महाराष्ट्र और केरल में थीं। महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम एकनाथ जैसे संतों का योगदान महत्त्वपूर्ण हैं। संतो ने दलितों को सामाजिक न्याय दिलाना चाहा किन्तु दलितों के सुधारकार्य में संत सफल सिद्ध नहीं हुए। महाराष्ट्र में दलित संतो ने मंदिरों के बाहर बैठकर ही अध्यात्म तथा पुनर्जन्म, पाप-पुण्य के जंजाल में फंस गये थे। ऐसे ही मराठी के कुछ संतो के लेखन पर हम संक्षेप में एक दृष्टिपात करने का उपकम है।

चोखामेला

चोखामेला ने भी गुलामी का जीवन व्यतीत किया। विदोह करने की बजाय वे मरते दम तक मर हुए जानवरों को गाँव से उठाने का कार्य करते रहे और पत्थर की मूर्ति के सामने अपनी वेदना को व्यक्त किया वे कहते हैं यथा -

"हीन याती माझी देवा। कैसी धैडल तुझी सेवा।
मझ दूर-दूर हो म्हणती। तुज भेटु कवण्या रीति।
माझा लागताची कर । सिंतोडा घेताती करार।
माझय गोविंदा गोपाल। करूणा भाकी चोकामेला।" 9

हे! ईश्वर तूने मेरी जाति को नीच हीन ठहराया है, तब तेरी सेवा मैं कैसे करूं? मुझे सब दूर-दूर रहने को कहते हैं। ऐसी अवस्था में मैं तुझे कैसे मिलुँगा, मेरा स्पर्श होते ही सब पुनःस्नान करते

हैं। हे मेरे गोविंदा गोपाला, तेरी दया की मैं भीख माँगता हूँ। दलित संत चोखामेला अपने इस जन्म को पूर्व जन्म का पाप मानते हैं। आगे चलकर उनका सुपुत्र कर्ममेला ने कठोर से कठोर शब्दों मं वणाश्रम का जमकर विरोध किया। इसके स्वर में विदाह दृष्टिगत होता है, जबकि चोखामेला के स्वर में सिर्फ वेदना ही पमुख बनी रही।

नामदेव

संत नामदेव जी ने बाह्मणवाद का खुलकर विरोध किया। इनके स्वर में बाह्मणों के विरोध में आग भडक उठी। तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र मे संत एकनाथ, संत तुकाराम, समर्थ रामदास, जनाबाई (दासी) गोराकुम्हार, सेनानाई, सावतामाली आदि भी हीन जाति के संत हुए हैं।

मराठी दलित संतो की तुलना में हिन्दी के दलित संतो की वाणी में आत्मविश्वास तथा मानव विरोधी विचारों का विरोध दिखाई देता है। संत नामदेव अकले एसे मराठी दलित संत हैं, जो कबीरजी के समान सीधा-सीधा वर्ण भेद पर पहार करते हैं। नामदेव ने भी वर्णाश्रम तथा बाह्मणों की ऊच्चता को चुनौती देते हुए कहा – “ नाना वर्ण गवा; उनका एक वर्णदध। तुम कहां के बाह्मण हम कहां के शूद ।।”[10]

संत नामदेव जी ने बाह्मणवाद का खुलकर विरोध किया। इनके स्वर में बाह्मणों के विरोध में आग भडक उठी।

ज्ञानदेव

ज्ञानदेव इस 1271 से 1296 तेरहवीं शताब्दी से लेकर सत्तरहवीं शताब्दी तक संत आंदोलन के पहले पभावी नेतृत्व करनेवाले और परणा देने वाले पतिभा संपन्न युग पुरुष रहे हैं। समाज सुधार हेतु समाज में छुआछुत जैसे गैर बराबरी वाले तत्त्वां को मिटाकर सदभाव फैलाने का कार्य ज्ञानेश्वरी के माध्यम से किया। संत ज्ञानेश्वर के समय में राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत ही विकट थी। कुमुदिनी पाटील अपने गंथ में लिखती है, “ज्ञानेश्वर अच्छो तरह से जान चुके थे कि समाज के रोम-रोम में वर्णाश्रम और जातिभेद समाए हुए हैं। ये भेद किसी दृढ नैतिक या तार्किक आधार पर स्थित नहीं हैं। फिर भो समाज के सभी व्यवहारों में इसका विचार किया जाता हैं। किसी भी पथा का पालन उचित चिंतन के आधार पर किया जाए तब ही उसके सामाजिक व्यवहार सुयोग्य बन जाते है।”[11]

संत ज्ञानेश्वर ने दलितों–पीडितों को देखने और सोचने पर मजबूर किया। ज्ञानेश्वरी के माध्यम से गीता के संदेश को लोगों तक पहुंचाया। लोगों को सद्बुद्धि मिल, उनकी सोच को सही दिशामें लगाने के लिए ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी के द्वारा सन्मार्ग दिखाया। ज्ञानेश्वर और उनक अनुयायियों ने समाज में रहकर सामाजिक व्यवहारों को प़रा करते हुए परमार्थ साधना की। हरि नाम संकिर्तन के द्वारा इन भक्तों ने शूदादिशूद को भी अध्यात्म रस का पान कराया। सभी जातियों के लोगों को समान दर्ज़ा देने का कार्य इन वारकरी संपदाय के लोगों ने किया। 12

ज्ञानेश्वर खूद बाह्मण थे। उन्हाने कभी अपने वंश का अभिमान नहीं किया। उनकी नज़र में सभी जातियाँ समान थीं। किसी भी पकार के भेदभाव को वे नहीं मानते थे। ज्ञानेश्वर के मतानुसार अभिजात्य कुल और वंश की ऊँचाइ का गर्व, रूप लावण्य और धर्म संपत्ति का अभिमान मनुष्य को भक्तिहीन बना देता है। ज्ञानेश्वर ने अपने अंभगो (दोहों) के माध्यम से सामान्य लोक जीवन को सामने रखा। उनकी पीडा यातना को जौहर, पालना, गौणी आदि में दर्शाया है। ज्ञानेश्वर न सामाजिक परिस्थिति को विशेष महत्त्व दिया है। उनके काव्य स्मृति गथों पर आधारित है।

संतो को समाज का गहरा अनुभव था। सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्याओं को ध्यान में रखते हुए इनमें छिपी हुई बुराइयों की निंदा की है। मराठी दलित संत हो चाहे हिन्दी क्षेत्र के दलित संत हो दोनों ने अपनी भक्ति भाव के साथ–साथ दलित समाज को भी उन्नत करना चाहा। यथासंभव शूदों की दशा के पति चिंतन करके विचारोन्मुख सुधारने का पयत्न किया है। वह समय ही एसा था कि जब सामंतो का विरोध करने से समस्याओं मे फँसाया जाता था। कभी–कभी तो जान से हाथ धोना होता था। एसी अवस्था में भी इन संतो ने बाह्मणवाद व जातिवाद का वैचारिक एवं बौद्धिक ज्ञान का सहारा लेकर खंडन किया है। यह उस समय बडा ही कठिन कार्य था।

2.6 निष्कर्ष

इस अध्याय में हमने हिन्दी तथा मराठी दलित साहित्य की पृष्ठभूमि को देखा। हिन्दी दलित साहित्य के विकास में बौद्ध, सिद्ध, नाथ और भक्तिकालिन संत कवियों का योगदान रहा है। इन सभी ने मिलकर दलित साहित्य की पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। उसी पकार मराठी में भी मराठी संतो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

उपर्युक्त संता की वाणी संबधी चिंतन करने से इस निष्कर्ष पर उतर आते है कि संतों की वाणी सामाजिक समता स्थापित नहीं कर पाई। उनकी वाणी पौराणिक और आदर्श मानकर समाज

के सामने भक्ति मार्ग फैलाया किन्तु भक्त जाति की टोलियों में बंटकर रह गया। हिन्दू सामंत शाही को इसीपकार की सामाजिक व्यवस्था चाहिए थी। मराठी दलित संतो की तुलना में हिन्दी के दलित संतो की वाणी में आत्मविश्वास तथा मानव विरोधी विचारों का विरोध खुलकर दिखाई देता है। संत नामदेव अकेले एसे मराठी दलित संत है, जो कबीर के समान सीधा–सीधा वर्ण भेद पर पहार करते हैं।

आधुनिक युग में दलित साहित्य का पारंभ मराठी भाषा में पहले हुआ। फिर 1980 से हिन्दी भाषा क्षेत्र में अपना वर्चस्व जमाया है। जिस पकार बाबुराव बागुल, अण्णाभाउ साठे, केशव मेश्राम, चोरवा कांबडे, दया पवार, गंगाधर पानतावणे और शंकरराव खरात जैसे पभुति लेखकों ने मराठी दलित साहित्य की पृष्ठभूमि बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, उसी पकार हिन्दी दलित साहित्य में ओमपकाश वाल्मीकि, जयपकाश कर्दम, सूरजपाल चौहाण, मोहनदास नैमिशराय, कुसुम वियोगी,रुपनारायन सोनकर आदि लेखकों ने दलित साहित्य को समृद्ध करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जिससे हिन्दी और मराठी दलित साहित्य पृष्ठभूमि की नींव मजबूत बनी है।

2.7 संदर्भ :

1. डा. जयपकाश कर्दमः संपादित साहित्य, 2001, पृ. 11
2. हिन्दी साहित्य का इतिहासः रामचंन्द शुक्ल
3. कबीर बाणीः कबीर
4. संत कवि रैदास मूल्यांकन और पदेय : डॉ. एन सिंह साखी संख्या 107 पृ. 33
5. दलित विर्मश, दलित ऊर्ष और दलित संघर्षः पो. शुकदेव सिंह लेख साहित्य संस्थान पकाशन गाजिया बाद
6. सुत न कपासः धर्मवीर भारती वाणी पकाशन नयी दिल्ली पृ. 206
7. हिन्दी और मराठी दलित साहित्य का एक तुलनात्मक अध्ययनः डॉ. सुरेश मारूति राव मूले नवभारत पकाशन दिल्ली पृ. 31
8. अण्णा भाऊ साठे , दलित लेखकांचे पहिले संम्मेलन उदघाटंनाचे भाषण, मुंबई, 1958

9. मराठो दलित कविता और साठोत्तरी दलित कविता में सामाजिक और राजनैतिक दलित चेतना : विमल थोरात पृ. 32

10. दलित साहित्य की हुंकार सात समुद पारः डा. सोहनपाल सुमनाक्षर पृ. 70

11. दलित साहित्यः डॉ. जय पकाश कर्दम संपादित, 2001 पृ. 191

12. संत ज्ञानश्वर एवं तुलसीदास तुलनात्मक अध्ययनः डा. कुमुदिनी पाटिल, चिन्तन पकाशन कानपुर पृ. 39 वही पृ. 95